



लोग सत्ता क्यों चाहते हैं

हिन्दी संस्करण

<https://prompting-query.com/hi/books/year-2025/why-people-want-power-essay/>

सत्ता की चाह मनुष्य की सबसे पुरानी और सबसे टिकाऊ इच्छाओं में से एक है। इसकी जड़ें इतिहास में भी हैं और जीव-विज्ञान में भी: दूसरों पर हावी होने, ऊँच-नीच का क्रम बनाने और संसाधनों पर नियंत्रण रखने की प्रवृत्ति सत्ता को आकर्षक बनाती है। बहुत-से लोगों को वह आवश्यक भी लगती है। इतिहास में यही चाह नायकों, मुखियाओं और राजाओं का रूप लेती है; उनके इर्द-गिर्द केवल राज्य ही नहीं, मूल्यों की पूरी व्यवस्थाएँ खड़ी होती हैं।

लेकिन यह इच्छा जितनी स्थायी है, सामाजिक परिस्थितियाँ उतनी ही बार हमें सत्ता के कारणों पर फिर से सोचने को विवश करती हैं। सीमित संसाधनों की खींचतान, प्रतिस्पर्धा और अव्यवस्था का डर यह पूछने पर मजबूर करते हैं: यही सत्ता क्यों, अभी क्यों, और इस तरह क्यों? यहीं संस्कृति और परवरिश सबसे गहरा असर डालती हैं। वे हमें सत्ता को एक लक्ष्य, एक हासिल की जा सकने वाली स्थिति और सफलता के चिह्न के रूप में देखना सिखाती हैं। उसके पक्ष में दिए गए कारण मिथकों में जम जाते हैं, माता-पिता से बच्चों तक पहुँचते हैं और शिक्षा का हिस्सा बन जाते हैं।

फिर भी एक सवाल उठता है: यदि मानव इतिहास में सत्ता पाने की चाह की ज़रूरत ही न होती, तो क्या होता? ऐसे संसार की कल्पना कीजिए जहाँ समाज ऊँच-नीच के क्रम पर न टिका हो, जहाँ ऊपर से नीचे जाने वाले संबंधों की जगह बराबरी के रिश्ते हों। वहाँ जीवन का रूप बिल्कुल अलग होता—शायद अधिक लचीला, शायद अधिक अव्यवस्थित, लेकिन निश्चय ही वैसा नहीं जैसा हम जानते हैं। वैधता को देखने का हमारा ढंग भी उतना ही बदल जाता: अगर सत्ता को अपने लिए कोई आधार या स्पष्टीकरण न देना पड़ता, तो वह हमें स्वाभाविक भी लग सकती थी और, इसके ठीक उलट, बेतुकी भी।

यहीं कारण सत्ता को मनमानी से रोकने वाला सहारा बनता है। हम मानना चाहते हैं कि सत्ता का कोई आधार है; वह संयोग, सनक या भूल नहीं है। इस विश्वास से पूर्वानुमान, नैतिक स्थिरता और भरोसे का एहसास पैदा होता है। इसके बिना सत्ता किसी को अत्याचार लगती है, तो किसी को अराजकता—यह देखने वाले के नज़रिए पर निर्भर है।

लेकिन अगर यह कारण भी केवल बाद में गढ़ा गया औचित्य हो तो? तब वह सत्ता से पहले नहीं आता, बल्कि सजावट या आवरण की तरह उसके साथ चलता है। यह समझ न्याय पर हमारा भरोसा हिला देती है: अगर कारण भ्रम है, तो शायद सत्ता भी अपने आप से किया गया धोखा है।

किसी कारण का सहारा अक्सर नैतिक श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए लिया जाता है। वह केवल तर्कसंगत व्याख्या नहीं, सत्य पर अधिकार जताने और यह तय करने का दावा भी है कि अच्छा क्या है और बुरा क्या। राजनीतिक भाषा इसी नींव पर खड़ी होती है: 'हमें अधिकार है, क्योंकि...' इन शब्दों में वह ताकत है जो सत्ता को टिकाऊ, हस्तांतरणीय और वैध बनाती है। लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि कभी-कभी इस आवरण के पीछे नंगी ताकत, नियंत्रण और ज़बरदस्ती छिपी होती है। जब आवरण पारदर्शी हो जाता है, तो सत्ता का जादू टूट जाता है और वह महज़ एक तंत्र रह जाती है।

अगर सत्ता का कोई औचित्य न होता—मिथक के रूप में भी नहीं—तो वह खोखली होती। लोग केवल भय या आदत के कारण उसका आदेश मानते। पर जब तक कोई न कोई कारण मौजूद है, चाहे उस पर विवाद ही क्यों न हो, सत्ता बनी रह सकती है। ख़तरा तब पैदा होता है जब कारण का अर्थ खो जाता है। फिर सत्ता समझाने-बुझाने के बजाय हेरफेर बन जाती है; उसका आधार लोगों का विश्वास नहीं, उनकी बेबसी होती है।

कुछ शोधकर्ताओं के अनुसार सत्ता की चाह के मूल में भय है। अराजकता, अव्यवस्था और सीमाएँ मिट जाने का डर लोगों को अधीन होने की ओर धकेलता है। सत्ता सुरक्षा और स्थिरता का वादा करती है, भले ही उसकी कीमत आज़ादी पर रोक हो। ईर्ष्या, किसी व्यक्ति का आकर्षण और खुद को साबित करने की इच्छा जैसे दूसरे कारण भी भूमिका निभाते हैं। कभी सत्ता केवल अपने बचाव का साधन होती है; कभी भीतर की बेचैनी को दबाने का उपाय।

कल्पना कीजिए कि सत्ता भय से नहीं, प्रेम से जन्म लेती। ऐसे समाज में नेतृत्व का अर्थ देखभाल होता, प्रभुत्व नहीं। सत्ता सेवा होती, शासन करने की लालसा नहीं। क्या ऐसा संभव है? सिद्धांत में हाँ। मगर जीवन में सत्ता के ऐसे रूप विरले और नाजुक होते हैं। प्रेम पर टिकी सत्ता की चाह को केवल सत्ता सँभालने वाले व्यक्ति का नहीं, पूरे समुदाय का सहारा चाहिए।

अगर सत्ता विरोध से पैदा होती, तो वह यथास्थिति को बचाने के बजाय उसे बदलने, यहाँ तक कि तोड़ने की कोशिश करती। वह स्वयं क्रांतिकारी आवेग, लगातार नए होने और जमी हुई ऊँच-नीच को न मानने की अभिव्यक्ति बन जाती। ऐसी सत्ता अपनी स्थिरता देने वाली भूमिका खोकर बदलाव का औज़ार बनती—और साथ ही अस्थिरता का स्रोत भी।

लेकिन वास्तविक जीवन में एक विरोधाभास सामने आता है: आदमी जितनी अधिक सत्ता पाता है, उतनी ही बार वह स्वयं को खो देता है। नियंत्रण हासिल करते समय उठने वाला अस्तित्वगत संकट भीतर का खालीपन उजागर कर देता है। पता चलता है कि सत्ता जीवन को अर्थ से नहीं भरती; वह अर्थ को नष्ट भी कर सकती है। तब सत्ता शिखर नहीं, एक खाई लगने लगती है।

सत्ता के निरर्थक लगने के पीछे केवल निजी संकट नहीं होता। असफल सुधार, भ्रष्टाचार और विचारधारा से थकान जैसे व्यवस्था के भीतर के कारण भी होते हैं। जहाँ सत्ता से कोई नतीजा नहीं निकलता, वहाँ वह बेअसर, एक नाटक-सी लगती है। लोग भरोसा खो देते हैं, दूर हट जाते हैं और राजनीति में भाग लेना छोड़ देते हैं। सत्ता औज़ार नहीं, मज़ाक—एक प्रहसन—बन जाती है।

एक ऐसे समाज की कल्पना कीजिए जहाँ सत्ता हमेशा अर्थपूर्ण लगती। शायद वहाँ संदेह का दर्शन पैदा न होता और शासन के दूसरे तरीकों की खोज भी न होती। लेकिन यही संदेह बौद्धिक और सामाजिक विकास को आगे बढ़ाता है। इसी से आलोचना, विरोध और नए सिरे से विचार जन्म लेते हैं।

अगर सत्ता का अर्थहीन लगना उदासीनता के बजाय लोगों को जगा दे, तो उसके प्रति एक नया रवैया बनता है। लोग अपनी भागीदारी पर फिर से सोचते हैं, शामिल होने के रास्ते खोजते हैं और जवाबदेही माँगते हैं। मगर इससे अक्सर उग्रता भी बढ़ती है। जो व्यक्ति सत्ता में जीवन का अर्थ खोजता है, वह अपने ही भ्रम में फँस सकता है: सत्ता उसके भीतर के खालीपन का विकल्प बन जाती है।

ऐसा व्यक्ति मान सकता है कि सत्ता के सहारे ही उसका कोई महत्त्व होगा। तब अर्थहीनता मिटती नहीं; वह पद, प्रभाव और अधीनस्थों जैसे बाहरी चिह्नों के पीछे छिप जाती है। लेकिन भीतर यह चिंता बनी रहती है: 'अगर इन सबका कोई अर्थ ही न हो तो?' यह चिंता पूरी व्यवस्था को भीतर से तोड़ सकती है। सत्ता की स्थिरता डगमगाती है और उसकी वैधता पर संकट आ जाता है।

कभी यह सांस्कृतिक व्यंग्य में दिखाई देता है: सत्ता हँसी और कटाक्ष का विषय बन जाती है। जो रस्में पहले महत्त्वपूर्ण लगती थीं, अब खोखली लगने लगती हैं। और जब सत्ता का घोषित उद्देश्य उसके परिणाम से मेल नहीं खाता, तो उसकी नींव ढहने लगती है। लोग वादों पर विश्वास करना छोड़ देते हैं और सत्ता अपना भविष्य खो देती है।

यहाँ एक और ज़रूरी बात सामने आती है: सत्ता के आधार। उनके बिना सत्ता हिंसा बन जाती है। कुछ संस्कृतियों में सत्ता बस 'है'—किसी प्राकृतिक घटना की तरह; उसके लिए स्पष्टीकरण माँगा ही नहीं जाता। लेकिन दूसरे संदर्भों में, विशेषकर लोकतंत्रों में, बिना आधार की सत्ता खतरे की तरह देखी जाती है।

इसीलिए कथाएँ गढ़ी जाती हैं—दैवी अधिकार की, परंपरा की, जनता और शासकों के बीच समझौते की। ये आधार सत्ता को वैधता देते हैं। क़ानून उसे नियमों में बाँधता है, संस्कृति उसका समर्थन करती है और शिक्षा उसकी व्याख्या करती है। इन सब से न्याय होने का एहसास बनता है। लोगों को लगता है कि वे किसी की मनमानी नहीं, एक समझ में आने वाली व्यवस्था का पालन कर रहे हैं।

पर क्या हो अगर वह आधार केवल धुँएँ का पर्दा हो? अगर वह वास्तविकता को दिखाने के बजाय उसे छिपाता हो? तब सत्ता हेरफेर बन जाती है। ख़ासकर तब, जब उसके आधार बार-बार बदलते रहें—धर्म से प्रगति, प्रगति से सुरक्षा, सुरक्षा से अस्तित्व बचाने तक। लगातार नए औचित्य खोजने से भरोसा घिसता है और सत्ता की स्थिरता कम होती है।

जब आधार स्पष्ट नहीं होते, तो अर्थ को लेकर संघर्ष शुरू होता है। कुछ कहते हैं कि सत्ता रक्षा करती है; दूसरे कहते हैं कि वही ख़तरा है। इस लड़ाई में सही होने वाला नहीं, सबसे ऊँची आवाज़ वाला जीतता है। इसी तरह संस्थाएँ बिखरती हैं, लोकलुभावन राजनीति उभरती है और आम सहमति समाप्त हो जाती है।

अगर किसी नेता का निजी आकर्षण आधार की जगह ले ले, तो सत्ता एक व्यक्ति पर टिक जाती है। यह ख़तरनाक है: आकर्षण उस व्यक्ति के साथ मर जाता है और उसके बाद कौन आएगा, यह साफ़ नहीं होता। सत्ता एक तमाशे में बदल जाती है। तमाशा ख़त्म होने पर लोग खालीपन के सामने अकेले रह जाते हैं।

कभी सत्ता का आधार केवल आदत होती है: 'हमेशा से ऐसा ही होता आया है।' परंपरा में ताकत है, लेकिन कमज़ोरी भी—वह नवीकरण की जगह नहीं देती। तब सत्ता ममी बने शरीर की तरह जम जाती है। वह जीती नहीं, बस बनी रहती है।

फिर भी, उसकी सारी नाज़ुकता के बावजूद, किसी आधार का होना न्याय के एहसास को मज़बूत करता है। अगर लोग सत्ता के बने रहने का कारण समझते और मानते हैं, तो कठिन समय में भी उसे स्वीकार करते हैं। उसके बिना केवल डर बचता है। या उदासीनता। या विद्रोह।

जहाँ लोगों के व्यवहार में तालमेल बैठाना हो, संसाधनों का प्रबंध करना हो, झगड़े सुलझाने हों और व्यवस्था बनाए रखनी हो, वहाँ सत्ता किसी न किसी रूप में उभरती है। यह हर संगठित साथ रहने के ढंग में मिलती है—पुराने क़बीलों से आज के राज्यों तक, परिवारों से बहुराष्ट्रीय कंपनियों और यहाँ तक कि ऑनलाइन समुदायों तक। हर जगह इसका रूप अलग होता है; वह समाज के विकास, उसकी ज़रूरतों और उसकी सांस्कृतिक मान्यताओं को दर्शाता है।

इसके उलट, सत्ता का अभाव वहाँ दिखता है जहाँ प्रबंधन की ज़रूरत नहीं होती या व्यवस्था बनाने के दूसरे तरीके मौजूद होते हैं—बराबरी, स्वायत्तता, अपना नियमन स्वयं करना। मगर ऐसी स्थितियाँ अक्सर थोड़े समय के लिए रहती हैं या अलग-थलग वातावरण में चलती हैं। इतिहास में अराजकतावादी समुदायों, बराबरी पर बने क़बीलों और अल्पकालिक आदर्शवादी प्रयोगों के उदाहरण बताते हैं कि संगठित समाज में सत्ता का पूर्ण अभाव दुर्लभ है।

सत्ता कुछ परिस्थितियों के मेल से संभव होती है: आबादी का घनत्व, सीमित संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा, संचार के जटिल रिश्ते, और ऐसे ऊँच-नीच के क्रम या हित जिनमें तालमेल ज़रूरी हो। दूसरी ओर, पूरी स्वायत्तता, अलगाव, नियंत्रण को संस्कृति द्वारा ठुकराना, या आपसी संबंधों को व्यवस्थित करने की ज़रूरत न होना सत्ता को असंभव या अस्थिर बना सकता है। ऐसे में वह या तो उभरती ही नहीं या जल्दी बिखर जाती है।

जिस वातावरण में सत्ता बनती है, उसे देखने से पता चलता है कि कौन-सी बातें उसे मज़बूत और कौन-सी कमज़ोर करती हैं। संकट, संघर्ष, गहरी असमानता, जमी हुई ऊँच-नीच और समाज का खंडों में बँटना उसके लिए अनुकूल होते हैं। इन हालात में सत्ता जीने और व्यवस्था बनाए रखने का रास्ता लगती है। खुले समाज, बराबरी वाले ढाँचे, आपसी

भरोसा और विकसित स्वशासन इसके विपरीत स्थितियाँ हैं। वे सत्ता के औज़ारों की ज़रूरत घटाते हैं और व्यवस्था चलाने के दूसरे रास्तों के लिए जगह बना सकते हैं।

सत्ता की सीमाएँ केवल राजनीतिक या प्रशासनिक रेखाएँ नहीं होतीं। वे मन में, संस्कृति में और प्रतीकों में भी होती हैं। ये सीमाएँ नागरिकों की इस सोच में दिखती हैं कि संस्थाएँ उनके जीवन में कितना दखल दे सकती हैं; क़ानूनी पाबंदियों में भी, और उन मिथकों तथा रस्मों में भी जो सत्ता को बाँधते हैं या उसे विशेष दर्जा देते हैं। ये सीमाएँ हमेशा साफ़ दिखाई नहीं देतीं, पर किसी संस्कृति में सत्ता क्या कर सकती है और कहाँ तक जा सकती है, यह वही तय करती हैं।

अलग-अलग क्षेत्रों और संस्कृतियों में सत्ता अलग ढंग से प्रकट होती है। कहीं वह नेता के व्यक्तित्व और आकर्षण से जुड़ी होती है, कहीं संस्थाओं में ढलकर किसी एक चेहरे से मुक्त हो जाती है। सत्ता धार्मिक, धर्मनिरपेक्ष, सैनिक, नागरिक या डिजिटल हो सकती है। हर रूप उस क्षेत्र की विशेष ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और जलवायु-संबंधी परिस्थितियों के जवाब में बनता है। भूगोल और संस्कृति छननी की तरह काम करते हैं: वे सत्ता को मज़बूत कर उसे स्थायित्व और वैधता दे सकते हैं, या उसे नाजुक और संकटों के प्रति कमज़ोर बना सकते हैं।

सत्ता का दूसरी चीज़ों से संबंध उसकी वास्तविकता और असर को परखने का एक अहम तरीका है। सत्ता अकेली नहीं रहती; उसका क़ानून, पूँजी, सूचना, हिंसा, धर्म और तकनीक से अनिवार्य रिश्ता होता है। ये सब कभी उसका प्रभाव बढ़ाते हैं, कभी उसे सीमित करते हैं। मिसाल के लिए, समाचार माध्यम सत्ता की आवाज़ बन सकते हैं, मगर उसके आलोचक भी; सेना किसी शासन का साथ दे सकती है, मगर तख़्तापलट का स्रोत भी बन सकती है।

कई संगठित समूह ऐसे हैं जिनमें सत्ता मुख्य भूमिका निभाती है या एक हिस्से की तरह शामिल रहती है। इनमें सरकारी संस्थाएँ, कंपनियाँ, विचारधारात्मक आंदोलन, धार्मिक संगठन, शिक्षण संस्थाएँ और प्रभावशाली तबके शामिल हैं। इनमें से हर समूह सत्ता के सामने कर्ता, उसके वाहक या उसके विरोधी की तरह आ सकता है। यह भी समझना ज़रूरी है कि सत्ता खुद एक बड़े परिवार का हिस्सा है—प्रबंधन और नियमन के तरीकों का, जिसमें मानदंड, दंड, क़ानून और मिथक भी आते हैं।

सत्ता जिन समूहों के साथ जुड़ती है, उनके भीतर भी काम, पद और संस्था के आधार पर अलग-अलग हिस्से बनते हैं। उनमें भूमिकाएँ उभरती हैं: शासक, मध्यस्थ, आलोचक, संदेशवाहक, सहयोगी और विरोधी। हर भूमिका सत्ता की बनावट और उसके काम करने के ढंग को प्रभावित करती है। किसी समूह में सत्ता की अपनी भूमिका इस पर निर्भर करती है कि उसे व्यवस्था का आधार, दमन का औज़ार या हेरफेर की वस्तु माना जाता है।

यही भूमिकाएँ सत्ता और दूसरी शक्तियों के बीच संबंधों का रूप भी तय करती हैं। ये संबंध सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, सहजीवन, बचने की कोशिश या शोषण के हो सकते हैं। सत्ता ज़बरदस्ती कर सकती है, समझा सकती है, हेरफेर कर सकती है या नियम के सहारे चला सकती है। उसका ढंग सांस्कृतिक माहौल, विचारधारात्मक आधार और वैधता पर निर्भर करता है।

जनता, प्रभावशाली तबके, सेना, धार्मिक संस्थाएँ और कारोबारी जगत जैसे सामाजिक समूह सत्ता की चाल में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। वे सत्ता को धारण भी कर सकते हैं और उसके प्रभाव के अधीन भी रह सकते हैं। कहीं सत्ता को पवित्र बना दिया जाता है, कहीं उसकी पवित्रता उतार दी जाती है। उसे बनाए रखने या तोड़ने में लोगों की दिलचस्पी इस पर निर्भर करती है कि लाभ किसे मिलता है, प्रतिष्ठा और प्रतीकात्मक पूँजी किसके पास है, और उसके पक्ष में कौन-सी कथाएँ सुनाई जाती हैं।

सत्ता के उभरने के कारण तालमेल, रक्षा, संसाधनों के बँटवारे और व्यवहार को नियमों में रखने की ज़रूरत से जुड़े होते हैं। कुछ कारण बाहर से आते हैं—खतरे, संघर्ष, प्राकृतिक आपदाएँ। कुछ समाज के भीतर से—जीवन को व्यवस्थित करने की आवश्यकता। सत्ता जटिल होते जीवन की चुनौती के जवाब में समाज का एक तरीका है।

सत्ता के परिणाम दोधारी होते हैं। वह स्थिरता और विकास के अवसर दे सकती है, पर दमन, ठहराव और विकृति भी ला सकती है। उसका असर जीवन के हर स्तर पर पड़ता है—सुविधाओं के बँटवारे से लेकर विचारों पर नियंत्रण तक। सत्ता के खुले और छिपे कामों में रक्षा, तालमेल, हिंसा, हेरफेर और लोगों पर अर्थ थोपना शामिल हैं।

सत्ता के बनने के दूसरे कारण भी हो सकते हैं: सांस्कृतिक पसंद, मिथकों में टिके विश्वास, तकनीकी सामर्थ्य, संयोग या किसी व्यक्ति का आकर्षण। इनमें से हर एक किसी विशिष्ट शासन-व्यवस्था की नींव बन सकता है।

अगर सत्ता रक्षा का काम न करती, तो वह परजीवी लगती। अगर उसे वैध ठहराने की परिस्थितियाँ न बनतीं, तो उसे लगातार चुनौती मिलती। और अगर सत्ता के कोई परिणाम ही न होते, तो वह वास्तविक घटना नहीं, महज़ एक कल्पना होती।

इस तरह सत्ता केवल शासन चलाने का तंत्र नहीं है। वह परतदार, बदलती रहने वाली और अर्थ रचने वाली घटना है, जो न सिर्फ़ सामाजिक व्यवस्था, बल्कि हमारे ज्ञान, पहचान और कर्म की बनावट को भी आकार देती है। वह समय, स्थान, कारण, समाज, संस्कृति और दर्शन के ताने-बाने में बुनी हुई है। हर क्रमिक विश्लेषण दिखाता है कि सत्ता कोई स्थिर वस्तु नहीं, बल्कि संबंधों, भेदों, इतिहासों और प्रतीकों का एक जाल है, जो संदर्भ बदलते ही नए ढंग से बनता रहता है।